

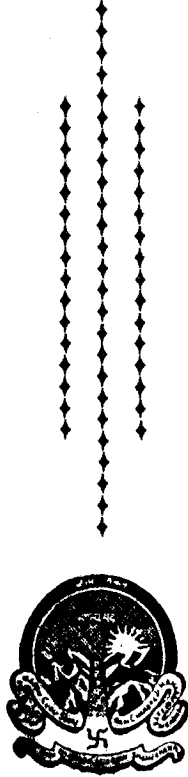
243

65-3

—: ओ३म् तत्सत् ।—

सहज मार्ग

SAHAJA MARGA



NO-3 '65.

Shri Ram Chandra Mission

Publication Department
SHAHJAHANPUR U. P. (India)

Annual Subscription Rs. 4/—

Per Copy Re. 1/—

—: सम्पादक-मण्डल :—

श्री काशीराम अग्रवाल (शाहजहांपुर) हिन्दी विभाग
श्री सूर्य प्रसाद श्रीवास्तव (लखीमपुर-खीरी) अंग्रेजी विभाग

सहज मार्ग

हिन्दी	विषय	लेखक	पृष्ठ
	प्रार्थना:— सम्पादक की बात		
१	परम-पद	समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज, फतेहगढ़	१
२	साक्षात्कार	श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष, श्री रामचन्द्र मिशन	३
३	अन्धेर-नगरी	कु० कस्तूरी चतुर्वेदी, बरेली	५
४	धर्मचार्य- सिद्ध गुरु और अवतारगण	कु० शशि टंडन	९
५	परम पूज्य "श्री बाबू जी महाराज" के प्रति (कविता)	श्री हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव, शाहाबाद	१३
६	लगन	श्री ईश्वर सहाय जी	१४
७	साधना का लक्ष्य	श्री उमाशंकर आर्य, सीतापुर	१७
८	श्री रामचन्द्र मिशन का सन्देश	श्री एस.सी. श्रीवास्तव, श्रीनगर गढ़वाल	२१
९	अर्चना— एक गज़ल	श्री रामेश्वरप्रसाद भटनागर, एम.ए. लेक्चरर, जी. आई. कासेज, सुनग, गढ़वाल	२४

ENGLISH

1	The Dawn of Light.	Sri Dattaraj Nartak, Gulbarga	1
2	The Essence of Sahaj Marga	Sri Ram Chandra ji, President, Sri Ram Chandra Mission	6
3	Sahaj Marga and the Upanishads.	Sri S. A. Sarnad	10
4	Our Sacred Duty	Sri Raghavendra Rao	14
5	My Spot in Divinity	Sri Nandini Seshadri	17

उत्तिष्ठत जागृत प्राप्य बरान्निबोधत ।
(उठो ! जागो ! गुरुजनो को प्राप्त कर ज्ञान-लाभ करो !)

वर्ष ९	संवत् २०२२ विक्रमी	Year 9
अङ्क ३	Year 1965	No. 3

प्रार्थना

हे नाथ ! तूही मनुष्य जीवन का ध्येय है,
हमारी इच्छायें हमारी उन्नति में बाधक हैं,
तू ही हमारा एक मात्र स्वामी और इष्ट है,
बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है ।

O, Master !

Thou art the real goal of Human life.

We are yet but slaves of wishes,

Putting bar to our advancement.

Thou art the only God and Power

to bring me upto that stage.

सम्पादक की बात—

पत्रिका का यह अंक भी आपके हाथों में विलम्ब से पहुंच रहा है। सक्रिय प्रयत्नों को होते हुये भी अपने निजी प्रेस के अभाव से उत्पन्न प्रकाशन सम्बन्धी कठिनाइयों ने हमें बेबस कर रखा है। इस विवशता के लिये हम अपने पाठकों से क्षमा चाहते हैं। अपना प्रेस हो जाने पर पत्रिका समय से मुद्रित और प्रकाशित हो सकेगी।

हम अपने प्रिय पाठकों को सूचना देना चाहते हैं कि निरन्तर बढ़ती हुई महंगाई के कारण पत्रिका का वार्षिक शुल्क ४) रु० कर दिया गया है।

परम पद

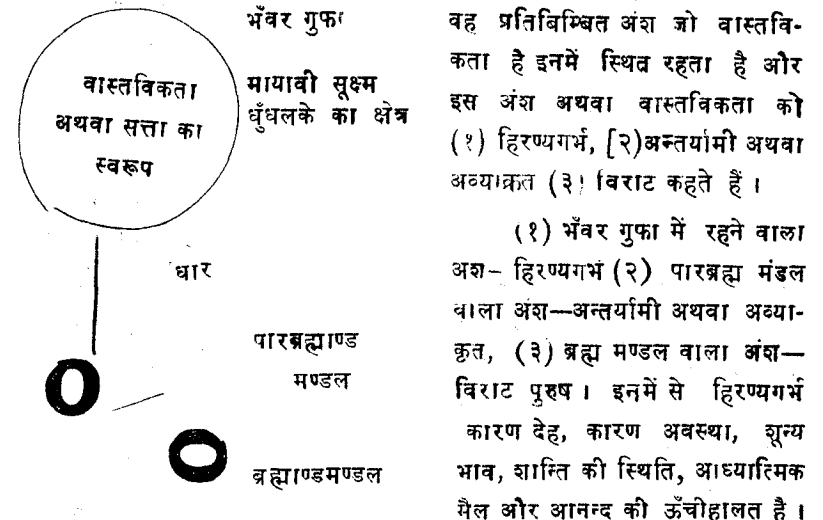
समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्र जी, फतेहगढ़

ॐ क्रमागत ॥

यह हमारा (अहं) क्या है? यह हमारा दिल है। किन्तु जब इस दिल को सूक्ष्म देह और आन्तरिक शरीर बताया जा चुका है, तो फिर शरीर को ज्ञान किस तरह हो सकता है, और उसको अनुभव कैसे हो सकता है?

बात यह है कि असलियत और अस्तित्व अपने स्वरूप के नीचे (मायावी सूक्ष्म धुँधलके का क्षेत्र) भँवर के रूप में चक्कर खाती हुई गुच्छे का रूप धारण किये हुये उस असलियत की छाया को अपने अन्दर सोख लेती है। यह विशेष प्रकार की ठोसता जमी हुई और मैलेपन की हालत अर्थात् शान्ति और स्थिरता की दशा है। यही चैतन्य और आध्यात्मिकता का आदि, मध्य और अन्त है, इसको कमाल कहते हैं, इसको पूर्णता कहते हैं, यही बीजरूपता है।

आगे इससे जो धार फूटती है वह चल कर मण्डल बनाती है और गोले के रूप में स्थित होकर परब्रह्म और ब्रह्म कहलाती है, जिसमें उसी पहली हालत के प्रतिबिम्ब के आंशिक भाग (बुन्द मात्र) के आने से उस ब्रह्म के तीन शरीर (१) कारण, (२) सूक्ष्म, और (३) स्थूल बन जाते हैं।



अन्तर्यामी अथवा अव्याकृत सूक्ष्म देह, सूक्ष्मता, ज्ञान गाँत, बौद्धिक तथा विवेक की स्थिति और हृदय की योग्यता अर्थात् प्रतिबिम्बित चाल और उल्टी

गति है। विराट स्थूल देह, स्थूलता, कर्म गति दैहिक अवस्था और शारीरिकता की सच्ची हालत है।

ब्रह्म का स्थूल देह विराट, कारण देह हिरण्यगर्भ और सूक्ष्म देह अन्तर्यामी अथवा अव्याकृत है। विराट, अन्तर्यामी और हिरण्यगर्भ क्रमशः ब्रह्म के शरीर, हृदय (मन) और आत्मा हैं। आसमानी खुदा के यह तीन-नासूती, मलकूती और जबरूती शरीर हैं इन तीनों की चोटी पर जो चौथी अवस्था है वह लाहौती और हाहौती पदों द्वारा व्यक्त की जाती है। यह ब्रह्म उस चौथे पद के एक बूंद से बना हुआ समुन्दर है जो लहराता रहता है, और मायावी रचना अथवा सगुण सृष्टि उसी के सहारे रहती है। यह खेल वह अपने अन्दर खेलता रहता है।

ब्रह्म की इस त्रिगुणात्मक स्थिति को सन्तों की पारिभाषिक शब्दावली में त्रिकूटपना अथवा त्रिकुटी कहते हैं। यह स्थूल, सूक्ष्म और कारण की सामूहिक अवस्था है। इसको जड़ चेतन और दोनों की ग्रन्थि की सम्मिलित अवस्था कहते हैं, जो शारीरिकता, शारीरिक योग्यता और आध्यात्मिकता की सिमटी हुई गुल्थी और सत, रज, तम की मिली जुली गिरह कही जाती है। यह तीनों मिल जुल कर ब्रह्म कहलाते हैं।

इस चौथे पद को क्या कहते हैं? निम्न क्षेत्र में चौथे पद को सुरत (तवज्जह), ऊँचे क्षेत्र में शब्द और असली क्षेत्र में अशब्द कहते हैं। किन्तु यह केवल नाम ही नाम है।

सुरत की पहचान ध्यान, तवज्जह, ठहराव, सिमटाव, शान्ति और स्थिरता है क्योंकि चौथे पद की प्रतिबिम्बित अवस्था होने के कारण उसमें निश्चल, शान्त और स्थिर होने की विशेषता है। उसके साथ रहने से यह दिल जिन्दा होकर उसका अभिमानी बना हुआ काम करता है और जब उसकी धार का ऊपर की तरफ लिव्चाव हो जाता है तो यह बेकाम, डूबा हुआ और मुर्दा बन जाता है।

‘सुरत’ पद ‘श्रुत’ अथवा ‘श्रुति’ से निकला है, जिसका अर्थ ‘सुना गया’ है। चूँकि असल में उसकी वास्तविकता की अभिव्यक्ति के लिए अधिक उचित पारिभाषिक शब्द नहीं मिला। अतः इसी शब्द को पर्याप्त मान लिया गया। साधारण भ्रान्त धारणा (गलत फहमी) से वेद मन्त्र को श्रुति कहने लगे हैं। यदि वह मन्त्र ध्वनि को श्रुति मानते रहते तो गलती में न पड़ते। क्योंकि यह व्याघात अथवा खण्डन से मुक्त है, यह अनुभव मात्र है। शब्द ही से हर वस्तु उत्पन्न होती है और शब्द में ही समा जाती है।

साक्षात्कार

श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष, श्री रामचन्द्र मिशन

जब जिस्म का भान नहीं रहता और रूह का भान भी थोड़ा बहुत समाप्त हो जाता है तो ऐसी हालत प्रतीत होने लगती है जिसके लिये संत तुकाराम ने कहा है—

“गुड़ से मीठे हैं भगवान

बाहर भीतर एक समान।”

इस अवस्था में दुई का पता कहां? Non-duality है मगर भान उसका कम है। यह अवस्था एक असीम समुद्र है, और इसमें जाने कितना पैराव होता है। वेदान्त में अद्वैत (Non-duality) कहा है। सम्भव है इससे भी आगे कोई कह गया हो, मगर यकीन कम है, क्योंकि बहुत सी बातें स्वयं अनुभव के लिये भी छोड़ दी जाती हैं। मैं बिना कहे नहीं रह सकता, सम्भव है लोग इससे सहमत न हो। जब हम ऐसी हालत में पहुँच जाते हैं जहाँ न द्वैत महसूस होता है न अद्वैत—इस तरह पर अर्थात् इसकी पहचान यह है कि चाहे सो वर्ष या हजार वर्ष तक द्वैत-बद्वैत पर Meditate करे तो भी यह ख्याल में न आये कि हम द्वैत में है या अद्वैत में — तब यह हालत सिद्ध हुई। अब तो जो सचमुच इस हालत में है उसमें इतनी शक्ति ही नहीं रहती कि वह इस पर Meditate कर सके। एक ही मिनट में Meditate करने से दिल घबरा उठेगा। जब इन्सान इस हालत पर आ जावे तो फिर बसलियत पर आ गया, सब पराव अभी बहुत बाकी है, इसकी हद नहीं।

भाई, मैं वाचिक ज्ञानियों की भाँति कह भी जाता हूँ किन्तु सच पूछो तो मुझे खबर नहीं। जब कोई अभ्यासी ऐसी हालतों में पहुँचता जाता है तो मुझे खबर होती जाती है। मुझे आता तो खैर कुछ नहीं, मगर जो कुछ भी आता है मैं चाहता हूँ कि लोग सीख लें। ताकि वह खुद ही ऐसे हो जायें, यदि उस हालत तक औरों को न पहुँचा सकें। मैं इस बात को कल सोच रहा था कि हो सकता है कि इक्का-दुक्का अगर मेरी तकदीर मदद करे तो ऐसे लोग बन जावें, किन्तु फिर इन हालतों में दूसरों को पहुँचाना बड़ी काठन चीज हो जायेगी, जब तक जिस्म का ज़रा ज़रा भूमा की असल कैफियत न ले आवे। और यह हो सकता है। कहूँगा यही, इसलिये कि जब हमारे गुरु महाराज में कोई कमजोरी नहीं तो मुझमें भी नहीं हो सकती। भले ही लोग इसको अहंकार समझे, इसकी परवाह नहीं। जिस्म से कमजोर ज़रूर

हूँ, मगर हिम्मत और ताकत में कमी नहीं कि यह एक सेकण्ड का काम है। भाई, मेरा तो यह खयाल है कि यदि रूहानी सम्बन्ध में कोई हालत पैदा करने में एक सेकण्ड से दूसरा सेकण्ड लग गया (बशर्ते कि उस एक सेकण्ड में काम करना भी चाहूँ) तो मैं पतित हो गया और इस क्राबिल नहीं रहा कि दूसरों को तालीम दे सकूँ। लोग इसको अहंकार समझेंगे, समझा करें।

अब सवाल यह है कि एक सेकण्ड में सब कुछ कर देने का धक्का कौन बरदाश्त कर सकेगा, और मुझे अक्सर इसका खेद रहता है कि कोई शरूस अगर और ज्यादा नहीं तो इतना ही सीखने-सिखाने वाला इस मिशन में पैदा हो जाये। यह सब मालिक के हाथ में है, जो वह चाहेगा वही होगा। अन्त में कहना यही पड़ता है, क्यों कि हम फिर भी बन्दे हैं। अतः एटीकेट कायम रखना जरूरी है। हमारे यहाँ तो यह हाल है कि अगर हम चाहें भी Special will से तालीम करना, तो लोग मेरे ख्याल में जंजीर डाल देते हैं। अब यह उनकी किसमत है या मेरी।

— एक अम्प्यासी को लिखे गये पत्र से उद्धृत।

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा,
आ ये धमानि दिव्यानि तस्थुः।

हे अमृत के पुत्रगण ! हे दिव्यधामवासी देवगण ! सुनो, मैंने उस अनादि पुरातन पुरुष को पहचान लिया है, जो समस्त अज्ञान-अन्धकार और माया के परे है। केवल उस पुरुष को जान कर ही तुम मृत्यु के चक्कर से छूट सकते हो। दूसरा कोई पथ नहीं है।

अंधेर नगरी

ले०—कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी, बरेली।

(टिप्पणी:— नाविक से तात्पर्य 'ईश्वर' से है।

ज्ञान:— ज्ञान है। माँ जीवात्मा है।

पिंडारों से तात्पर्य जीवन, मृत्यु, अभिमान, सुख, दुःखों से है।

सात समुद्र से तात्पर्य है ईश्वरीय-धारा द्वारा आत्मिक—गतिधियों के चढ़े समुद्र के समुद्र पी जावे फिर जहाँ एक समानता का साम्राज्य है, जहाँ माया का बंधन नहीं, जहाँ ईश्वरीय-कानून, नहीं सहजता का मधुर साम्राज्य है।)

केवल भावना में बहता हुआ मानव सिन्धु पार नहीं कर सकता, नाविक विचार-मग्न है। सिन्धु पार करने के लिये चाहिये शक्ति, दृढ़ता एवं बुद्धि। बुद्धि से परे, मानव होगा इस पार या उस पार। बुद्धि की नाव में दृढ़ता एवं शक्ति की पतवार, पुनः उसके ऊपर भाव का पाल लिये नाविक एक नहीं असंख्य समुद्रों से पार पहुँच सकता है। किन्तु ?

“किन्तु क्या सोच रहे हो नाविक ! प्रेम की शीतल बयार सदैव अनुकूल ही रहेगी ?”

दिन विदा होने को था। सूर्य भगवान अस्ताचल पर पहुँच कर विश्राम लेने लगे थे। संध्या की लालिमा ने दिशाओं के साथ क्रीड़ा करते हुये तरुपल्लवों एवं पृथ्वी को भी अपनी छवि से अनुरञ्जित कर दिया था। सरिता का निर्मल प्रवाह सिन्दूरी हो चुका था। ऐसे ही समय में विचार मग्न बेचारा नाविक सरिता के तट पर एक बड़े से ढेक पर जल में पैर डाले बैठा था। सरिता का निर्मल जल पुनः पुनः मित्रके चरण-चुम्बन कर लेता था। परन्तु मित्र तो मानों अचेतप्राय था।

“कौन सा प्रश्न, कौन सी समस्या इधर तुम्हें अपने में उलझाये रखती है ? तुम अनमने से रहते हो, सुचित्ते नहीं होने पाते, बोलो न नाविक क्या मैं तुम्हारी कोई सहायता नहीं कर सकती ?” मधुर रव से नाविक मानों स्वप्न से चौंक उठा।

“क्या है ज्ञान की माँ क्या भोजन करने चलू ?”

“नहीं, नाविक तुम मुझे भुलावे में न डालो। मैं देखती हूँ कि प्रातः का शीतल समीर, ऊषा की अरुणाई, ज्ञानूकी भोली सी तोतली बातें तुम्हें भुलावा नहीं दे पातीं। तुम्हारी मानसिक-शुद्धा को शान्त नहीं कर पातीं। शरद् की शुभ्र धवल ज्योत्सना, सरिता के निर्मल प्रवाह की शीतलता भी तुम्हारे मन को स्पर्श तक नहीं कर पाती। क्या कारण है, नाविक ! बता दो

न ? मैं तुम्हारे पथ में काँटा कदापि न बनूँगी, भय न करो अथवा क्या मेरी दृष्टि ही धोखा खा रही है साफ़ साफ़ बता दो न ?”

“ऐसी तो कोई बात नहीं है, जानूँ की माँ ! जिसे तुमसे छिपाने की आवश्यकता मुझे है। तुम्हारी दृष्टि धोखा नहीं खा रही है, बल्कि यह प्रेम का वह प्रतीक है जो दूध का दूध और पानी का पानी अलग कर देता है। इधर कई दिनों से मुझे एक प्रश्न चैन नहीं लेने देता। तुम तो जानती ही हो कि आजकल शहरों तथा गाँवों में भी पिंडारों का दल मनुष्य को एक क्षण भी चैन से नहीं बैठने देता। खुले बाज़ार लूट होती है, परन्तु क्या इसका कोई उपाय नहीं किया जा सकता है ? परिश्रान्त मानवों को क्या चैन की साँस नहीं दिलाई जा सकती ? कहते हैं सात समुद्र के पार सब अच्छा ही अच्छा है तो क्या इन्हें वहाँ नहीं पहुँचाया जा सकता ? किन्तु ?”

“किन्तु ? क्या नाविक, सुना है वहाँ समुद्र में नावें नहीं चलाई जा सकती। किसी में इतनी शक्ति ही नहीं रही जो उसमें नाव को लेकर पार लगा सके फिर क्या उपाय हो सकता है ? बोलो तुम्हीं कुछ बताओ क्या करूँ ?”

जानू की माँ के नेत्रों से झर-झर अश्रु गिर रहे थे। जिससे उसका देदीप्यमान मुख भीग गया था, “भला क्यों इतने परिश्रान्त हो तुम और किसी को भी तो इतनी चिन्ता नहीं है ? दिन पर दिन पिंडारों की संख्या में न्यूनता के बजाय अधिकता ही बढ़ती जाती है। दिन दहाड़े मानव सरे आम लूटे जाते हैं। स्त्री, बालक बालिकायें तथा तथा स्वजन सम्बन्धी सभी का तो अपहरण किया जाता है। धन एवं मान का तृषित मानव उसे भी खो बैठता है। किन्तु ? नेत्रों पर पलक ही पड़े रहते हैं। उनके उत्पातों से पीड़ित रहते हुये भी वे फ़रियाद नहीं करते हैं। क्यों ? सम्भव है आलस्य और अविश्वास के कारण। और ? स्वयं अपने में ही इतनी शक्ति उत्पन्न करें सो भी नहीं होता तो भला सोचो नाविक हम उनके लिये कर ही क्या सकते हैं। अपने पैरों में कोई स्वयं कुल्हाड़ी मारे तो इसका क्या उपचार हो ? उसी डाली पर बैठे हुये उसे ही काटना इस बुद्धि-रोग की भी कोई औषधि हो सकती है नाविक ? तुम्हीं सोचो मेरी बुद्धि काम नहीं देती।”

“चलो जानू की माँ भोजन करें। फिर कोई उपाय सोचेंगे। जानू भी खेलकर लौट आया होगा, भूखा भी होगा।” यह कह वह उठ खड़ा हुआ और जानू की माँ साथ होलीं। दोनों धीरे-धीरे अपने झोपड़े की ओर बढ़ चले।

दिन आते हैं और ढल जाते हैं। रात्रि आती है झिलमिल तारों की सारी पहिने परन्तु इससे क्या ? मद में मस्त हृदयों पर इसका प्रभाव क्या ? सुदृढ़ झोपड़े में दोनों स्त्री, पुरुष चले गये। जानू आकर लिपट गया बापू के पैरों

से। “हम तुमसे नहीं बोलेंगे बापू तुम भी तो नहीं बोलते” ?

“नहीं मेरे लाल तुम मुझसे छूटे थोड़े ही रह सकते हो, जानू के बिना मेरा प्रकाश ही नहीं”। नाविक भोजन कर रहा था। किन्तु कुछ तो उपाय सोचना ही होगा जानूँ की माँ ?”

“तो सोचो न ? मुझे जैसा कहो मैं तत्पर हूँ और मैं भी बापू !” बोल उठा जानूँ।

‘हाँ हाँ भाई तू क्या करेगा ?’ ‘जो बतादोगे बापू’। मुस्करा उठा नाविक, मानों पिंडारों के उत्पातों से पीड़ित मानवों के उपचार की औषधि का प्रकाश उसके नेत्रों के सन्मुख झिलमिला उठा हो। “कल प्रातः ही मैं जा रहा हूँ कुछ समय के लिये और जानूँ को भी अपने साथ ले जाऊँगा।” किन्तु ? वह विचार मग्न है—“क्या तुम अकेली रह लोगी जानूँ की माँ ! तो क्या मैं डरूँगी, मुस्करा उठी वह। “सती कभी अकेली नहीं हो सकती फिर यहाँ न पिंडारों का भय, न भय का साम्राज्य। यहाँ सभी तो सत्यप्रकाश, वेद-प्रकाश एवं कितने ही प्यारे बालक नित्य उपस्थित रहते हैं। मेरा जी भी लगा रहेगा। तुम जाओ मेरी चिन्ता न करो”।

प्रातः का शीतल समीर मन्द-मन्द गति से बह रहा था। कल-कल करती हुई सरिता मन्द गति से प्रवाहित थी। योगिक वेष में चला जा रहा था नाविक। चारों ओर हरियाली ही हरियाली छाई हुई है किन्तु अपनी बस्ती पार होते होते प्रकृति—आनन्द भी मूक हो जाता था मानों पिंडारों के भय ने प्रकृति को भयभीत कर दिया हो।

मार्ग चलने लगा था। कोई इधर जाता था कोई उधर। सब व्यस्त थे। योगी को देखकर भी मानों अनदेखे से चले जाते थे मानव। उनके नेत्रों में इतनी ज्योति कहाँ जो सत्य का अन्वेषण कर सकें और खोज तो दूर, सत्य की प्रतीति के लिये चाहिये थी दृढ़ता किन्तु उसका था अभाव। सब ओर से बेपरवाह सा चला जा रहा था योगी अपने जानूँ में मस्त। सन्यासी ने उसे गृहस्थ देखकर मुख फेर लिया एवं गृहस्थों ने उसे अपना सा ही मान लिया। “कहाँ से आते हो महाराज” एक क्षीणप्राय स्वर्ण का प्रश्न था। “यहीं निकट बस्ती से आ रहा हूँ जोर यह मेरा पुत्र जानू है” उसने कन्या को अपने जानूँ की ओर देखते हुये उत्तर दिया।

“परन्तु ? परन्तु क्या मुनियाँ ?”

‘तुम तो योगी से प्रतीत होते हो’ कन्या उसे साथ लिये गृह की ओर अग्रसर हो रही थी। घर आ गया परिचय हुआ। कन्या के साथ वाले उनके संग से बड़े प्रसन्न थे।

अचानक एक दिन “राम नाम सत्य है” की ध्वनि के

साथ ही सबकी दृष्टि सड़क की ओर घूम गई। “लूट ही लिया” पिंडारे ने योगी से कहा। “अंधेर नगरी में लोग इसी प्रकार लूट जाते हैं फिर भी लूटना ही सबको भाता है”। सबकी दृष्टि योगी के मुख पर थी। उसके एक एक शब्द मानों व्यथा व करुणा से पूर्ण थे। दो एक दिन पश्चात् ही वह चल पड़ा कहीं और एकाध दिन कहीं टिकते टिकाते वह फिर रहा था निरीक्षण में कोई न कोई इक्का दुक्का उसे अपनाने वाला निकल ही आता जहाँ वह टिक रहता। बस पुनः चल पड़ता। ज्ञानू भी कोतूहल वश सब कुछ देखता सुनता परन्तु उसे कुछ रुचिकर न प्रतीत होता था। “बापू! इतना हम तुम घूम आये परन्तु कहीं इतना प्रकाश न मिला जहाँ चैन की साँस लेते, तभी तो यहाँ सबको पिंडारे बहुत सताते हैं। हमारी बस्ती में पिंडारों का भय नहीं”।

‘क्योंकि बेटा हमें भी तो उनका भय नहीं। चलो ज्ञान-चर्चा और सुनते चले’

‘चलो बापू!’ उस ज्ञान-चर्चा में समुदाय एकत्रित था। कोई-कह रहे थे “जो कोई ठगों से विजय पाते वही कामयाब है। कबीर भी कह गये हैं” कौन ठगवा नागरिया लूटल हो’। फिर बोले “कहने को कह लो भाई म्याऊँ के गले में घण्टी कौन बाँधे!” दूसरे बोले—“मनुवाँ बड़ा हरामी है नहीं तो सब ठीक हो जाये” !! तीसरे बोले ‘चंचलम् हि मनः कृष्ण.’ तो इतने बढ़े अर्जुन तक ने भगवान से कहा है !!!

‘किन्तु असंभव नहीं यह भी उन योगेश्वर ने बताया है बापू मन ही मन बुदबुदाये’। ‘कथनी से रहनी कुछ कठिन है परन्तु सम्भव है’ कहकर उठ पड़े दापू।

‘चलो बापू अब घर लौट चले’ ज्ञानू बोला।

‘हाँ बेटा चलो तुम्हारी माता मार्ग देख रही होगी’ लौट पड़े दोनों गृह की ओर। सब दृष्य देख लिया, सुन लिया, समझ लिया।

वह देखो बापू अपनी बस्ती आ गई। धारा प्रवाहित है। ज्ञाना ज्ञाना सा प्रकाश हो रहा है। दोनों पिता, पुत्र को आये देख गृहणी आ गई द्वार पर। ‘कहो तुम्हारी चिन्ता कुछ दूर हुई, देख आये सब दृष्य?’ क्या लोगों ने उपाय कार्यान्वित करना प्रारम्भ कर दिया?’

‘नहीं! ज्ञानू की माँ अंधेर नगरी में कौन सुनता है किसकी—हाँ इतना अवश्य है कि जहाँ तहाँ प्रकाश-विन्दु अवश्य उपस्थित हो गये हैं’ ‘अंधेर-नगरी’ बड़बड़ाई ज्ञानू की माँ? ‘अंधेर-नगरी प्रकाश नहीं है’ माँ-बोला ज्ञानू !! अंधेर-नगरी ?

‘किन्तु प्रकाशित होगी’

शान्त भाव से कह रहा था नाचिक !!!

धर्माचार्य-सिद्ध गुरु और अवतारगण

भाग २

—कु० शशि टंडन

(गताङ्क मे आगे)

(उपरोक्त वर्णित सभी प्रकार के गुरुओं के अतिरिक्त एक और तरह के गुरु हैं। वह है—समस्त जगत के (इसी के समान) मनुष्य। यह सब गुरुओं के गुरु हैं—मनुष्यरूप में स्वयं ईश्वर की ज्योति है। यह पूर्वोक्त गुरुओं की अपेक्षा भी श्रेष्ठ है।)

इनके केवल छू देने से मनुष्यों के हृदय में धर्म का संचार हो सकता है। और तो क्या—उनकी इच्छा होते ही यह हो सकता है। ऐसे गुरुओं की शक्ति से तो अति नीच और व्यभिचारी भी क्षण भर में सुधर सकते हैं। वास्तव में यह गुरुओं के भी गुरु है—मनुष्य के सम्मुख ईश्वर के श्रेष्ठ प्रकाश है। हम लोग बिना उनकी सहायता के किसी तरह ईश्वर को देख नहीं सकते हम लोग उनकी पूजा किये बिना नहीं रहते और हम उन्हीं की पूजा करने को बाध्य हैं।

अवतारगणों के सम्मुख हम लोगों को अभी, फौरन अपने को समर्पण कर देना चाहिए—मगर करता कौन है—कुछ थोड़े से महानुभावों को छोड़ कर अन्य तो समझते हैं कि वह स्वयं ही बिना किसी सद्गुरु की सहायता के ईश्वर का दिव्य रूप देखने में सफल होंगे। किन्तु वास्तव में यह केवल सारहीन व मिथ्या विचार है—उन लोगों को जो अपने को भूल से जगतकर्ता एवं सर्वज्ञाता समझ बैठे हैं। सार्थकता तो यह है कि ईश्वर अवतारों में जिस भाव से प्रकाशित रहता है, उसके सिवा किसी मनुष्य ने आज तक ईश्वर का दूसरा रूप नहीं देखा। हम लोगों ने ईश्वर को नहीं देखा है, यदि हम उसको देखने की चेष्टा करते हैं, तो सफलता नहीं मिलती। देखना तो दूर रहा—हम लोग जब उसका चित्र बनाने लगते हैं, तो रूप को विकृत कर देते हैं। इसका एकमात्र सीधा सादा कारण यह है कि हम जब तक मनुष्य हैं, तब तक ईश्वर को मनुष्य से उच्चतर रूप दे ही नहीं सकते। अवश्य ही एक दिन वह भी समय आ जायेगा, जब हम मानव-प्रकृति को पारकर उसके सच्चे रूप को देखने में समर्थ होंगे तथा दैवी प्रकृति से मानव प्रकृति का सामंजस्य स्थापित होगा। किन्तु जब तक हम मनुष्य हैं, तब तक हमें उसकी पूजा मनुष्य रूप में करनी होगी चाहे आप जो कहें चाहे आप जितनी चेष्टा

करे, ईश्वर को मनुष्य के सिवा दूसरे रूप में देख नहीं सकेंगे—मेरा ख्याल ऐसा है। आप किसी सभा के रंगमंच पर खूब बड़े बड़े व्याख्यान दे सकते हैं। दिग्गज युक्तिवादी हो सकते हैं, आप यह भी सिद्ध करने में समर्थ हो सकते हैं कि ईश्वर के सम्बन्ध में यह जो सब पौराणिक कथायें हैं, बिल्कुल मिथ्या हैं, लेकिन भाई जरा ठहरें, सोचें और सरलता से विचार करें तो हमें मालूम होगा कि आपकी अद्भुत बिजली की कौंध जैसी बुद्धिमत्ता कैसी है? आप पायेंगे कि यह तो केवल शून्य एवं सारहीन है, इसमें कुछ सार पदार्थ ही नहीं। वे मनुष्य जो ईश्वर पूजा के विरुद्ध व्याख्यान फटकारते हैं असलियत में वे 'सर्व शक्तिमान,' सर्वशक्तिसत्ता' के मतलब भी नहीं समझते।

मेरी समझ में तो जिस मनुष्य ने एक पुस्तक भी नहीं पढ़ी—जो मूर्ख है वह भी उनकी अपेक्षा यानी ईश्वर के विरुद्ध व्याख्यान फटकारने वाले की अपेक्षा अच्छे हैं। क्योंकि जिस मनुष्य ने पुस्तक नहीं पढ़ी, वह कम से कम संसार की शान्ति तो नहीं भंग करता, किन्तु दूसरी तरह के मनुष्य यानी पढ़े लिखे लोगों के तर्क से तो लोग तंग हो उठते हैं। एक बड़ा छोटा सादा एवं घरेलू सा उदाहरण देना उचित होगा। अक्सर बड़े बूढ़ों को यह कहते सुना जाता है कि "पढ़े लिखे तो और भी अधिक मूर्ख होते हैं" पढ़े लिखों को ऐश—आराम, रुआब, बड़ों के प्रति आदर व इज्जत लेशमात्र भी नहीं होती—ऐसे दुर्गुणों के कारण वे पढ़े लिखे विद्वान् भी मूर्खों के मूर्ख हैं। क्यों? क्या इसलिए कि विद्योपार्जन व बुद्धिमत्ता अच्छे गुण नहीं? नहीं! ऐसी तो बात नहीं! विद्योपार्जन और बुद्धिमत्ता तो बहुत अच्छे गुण हैं—परन्तु उनका समय व स्थान के अनुसार सही प्रयोग होना चाहिए—अनुचित प्रयोग तो अच्छी से अच्छी चीजों का भी गलत परिणाम दिखा सकता है। बिल्कुल यही बात विद्योपार्जन व बुद्धिमत्ता के साथ है। विद्या व बुद्धिमत्ता ने पढ़े लिखे लोगों को यह अधिकार कहाँ से दे दिया कि वे अपने को सबज्ञ समझ बैठें? और उन अवतारगणों, महानात्माओं, महानुभावों का अनादर करें, उन्हें अपने हास्य का विषय समझें, उन्हें अपनी विद्या के जोश में मुट्टी से कुचल देने वाला मिट्टी का पुतला समझें—यह अधिकार उनको किसने दिया? वास्तव में पढ़े लिखे नासमझों के लिए बुजुर्गों द्वारा कहे गये शब्दों के बड़े गूढ़ अर्थ हैं—मूर्ख कम से कम यदि समाज को कुछ लाभ नहीं पहुँचाते तो समाज का रूप भी तो नहीं विकृत करते—कुछ पढ़े लिखों को छोड़कर शेष सभी संसार के शान्ति के स्रोतमय बहाव की शान्ति भंग करते हैं। वह ऐसा भूल या धोखे से नहीं करते और न ही सत्यता के रास्ते को अपनाना चाहते

हैं और जो चाहते हैं वह पाते हैं—या फिर उनकी चाह में उतना वेग नहीं होता, उतनी लगन नहीं होती—जो उन्हें सद्गुरुओं तक पहुँचा सके। किसी का यह वाक्य "जो चाहोगे—पावोगे" उसी प्रकार से भूल, वर्तमान और भविष्य में सत्य है जैसा कि तीनों कालों में सूर्य का सुबह निकलना और शाम को डूबना।

यथार्थ में तो नास्तिकों को किसी तरह के धर्म का ख्याल ही नहीं। लेकिन दोनों तरह के मनुष्य एक ही स्थान पर रहते हैं—आत्मचिन्तन व अनुभव करने वाले तथा दूसरे, संसार की वृथा तर्क—युक्ति में फँसने वाले। हमें संसार के बेकार के तर्क को छोड़ कर सीधे सादे "सहज मार्ग" के ज्ञान रूपी रास्ते को पकड़ना चाहिए। जगत में तो केवल लम्बे लम्बे व्याख्यान ही सुनने में आते हैं—और यह भी निश्चय है कि वर्तमान गठन व स्वभाव से हम सीमाबद्ध हैं और ईश्वर को मानव रूप में देखने को बाध्य हैं। भैस यदि ईश्वर की उपासना करना चाहे तो वह ईश्वर को एक वृहदकाय भैस के रूप में देखेगी। मछली यदि भगवान की उपासना करने की इच्छा प्रकट करे, तो उसको वृहदाकार मछली के रूप में भगवान की धारणा करनी होगी। इसी तरह मनुष्य को भी भगवान को मनुष्य रूप में विचार करना होगा। यह सब कल्पना नहीं, सत्य है। आप, मैं, भैस, मछलियाँ यह सभी ईश्वर के विभिन्न रूप हैं। मान लीजिए कि यह सब पात्र अपनी अपनी आकृति जल में देखने के लिए समुद्र में जा पहुँचे, तो मानव रूपी पात्र में उस जल में मानवाकार और भैस रूपी पात्र में भैस का रूप और मछली रूपी पात्र में मछली का रूप धारण किया। इस प्रत्येक पात्र में जल के सिवा कुछ नहीं, ईश्वर के बारे में भी ऐसा ही है। मनुष्य ईश्वर का मनुष्यरूप में दर्शन करता है, पशु-पशुरूप में दर्शन किया करते हैं। इसी तरह उनका दर्शन किया जा सकता है, आपको भी इसी मनुष्यरूप में ईश्वर की उपासना करनी होगी, क्योंकि दूसरा कोई उपाय नहीं—जब तक कि आप मानव श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं।

दो तरह के मनुष्य, भगवान की मानव रूप में उपासना नहीं करते—एक पशु-प्रकृति अर्थात् पुरुष या मानव, जिसका किसी तरह का धर्म नहीं, दूसरा परमहंस यानि सर्वश्रेष्ठ योगी, जो मनुष्य भाव से बाहर हो गये हैं, जो अपनी देह और मन को दूर फेंक चुके हैं जो प्रकृति की सीमा के बाहर जा चुके हैं, समस्त प्रकृति ही जिनका आत्मरूप हो गई है। जिनके मन भी नहीं, वही ईश्वर की वास्तविक यथार्थ रूप की उपासना कर सकते हैं। जैसे ईसा और बुद्ध यह दोनो ईश्वर की उपासना मानव रूप में नहीं करते

थे । यह हुई एक सीमा । दूसरी सीमा पशु-प्रकृति-मनुष्यों की । चूड़ांत ज्ञान और चूड़ांत अज्ञान का सम्बन्ध वैसा ही है जैसा कि दो प्राकृतिक वस्तुओं की चरमावस्था का रूप । यह दोनों किसी की उपासना नहीं करते क्योंकि चूड़ान्त अजानी अपने शरीर को ही ब्रह्म समझते हैं । जब वही स्वयं ब्रह्म है तब वह पूजा किसकी करेंगे ? दूसरी ओर चूड़ान्त ज्ञानियों ने तो स्वयं ब्रह्म का साक्षात्कार किया है । वह स्वयं ब्रह्म हो गये हैं—ब्रह्म ब्रह्म की पूजा नहीं करता । इन्हीं दो ज्ञानी और अज्ञानियों के सिवा यदि दूसरा कोई कहे कि मैं ईश्वर की मनुष्य रूप में उपासना नहीं करूँगा, तो उनसे खूब सावधान रहना चाहिए, क्योंकि ऐसे लोग बड़े खरनाक होते हैं—और वे जो कुछ कहते हैं उसका मर्म स्वयं नहीं समझते ।

अतएव मानवरूप में ईश्वर की पूजा करना आवश्यक है । जिन जातियों में मनुष्य रूप में भगवान का अवतार हुआ है, वे धन्य हैं । अवतार भगवान के दर्शन का स्वाभाविक उपाय है । हमारी ईश्वर सम्बन्धी सम्पूर्ण धारणा ही अवतार में वर्तमान है । ईश्वर की उपासना हम मनुष्य रूप में ही कर सकते हैं—क्योंकि वह सर्वव्यापी है और जगत्भर में विराजित है । ईश्वर क्या एक हाथ में दण्ड और एक हाथ में पुरस्कार लिए हमारी पूजा के लिए थोड़ी बैठा रहेगा ? आप अच्छे काम करेंगे पुरस्कार पायेंगे और खोटा काम करने से आपको दण्ड मिलेगा—कैसी विडम्बना है मनुष्य की । मनुष्य रूप में प्रकाशित उनके अवतार की ही हम पूजा कर सकते हैं । ईश्वर मनुष्य की दुर्बलता खूब समझता है और मनुष्य के कल्भाण के लिए मनुष्य का रूप धारण करता है—अवतार के रूप में या विश्व-अवतार के रूप में—जैसा कि आधुनिक युग में ईश्वर ने धारणा किया है और उनकी शक्ति इस संसार जगत् में तेजी से कार्य कर रही है । लेकिन पहचानने वाले अल्पसंख्यक ही हैं—बहुसंख्यक तो पहचानने की कोशिश करते हैं, न चिन्ता करते हैं, और न ही श्रद्धा भक्ति, व विश्वास है, बल्कि उल्टे अनादर करने की कोशिश करते हैं, परन्तु वह यह नहीं जानते कि उनकी क्या गति होनी है ?

भगवान ने कहा है कि "जिस समय धर्म का हास और अधर्म का अभ्युत्थान होता है, उसी समय मैं मनुष्य-हितार्थ जन्म ग्रहण किया करता हूँ ।" "मूढ़ व्यक्ति-विश्व का सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी ईश्वर 'मैं' मानव-मूर्ति धारण करता हूँ ऐसा नहीं जानकर मेरी अवज्ञा करते हैं और कहते हैं—भगवान मनुष्य रूप किस तरह धारण करेंगे ।"..... (गीता) उनका मन आसुरी अज्ञान रूपी बादलों से आघ्न हो गया है अतएव अवतार को जगत् का ईश्वर नहीं समझते । इन्हीं महान् ईश्वर के अवतारों की उपासना हमें

करनी चाहिए । केवल इतना ही नहीं; बल्कि अवतार ही एकमात्र उपासना के योग्य है और उनके आविर्भाव के दिन तथा तिरोभाव के दिन मनुष्यों को उनके प्रति भक्ति भाव प्रकाशित करना चाहिए । उनके जन्मदिन को हमें उपवास और प्रार्थना में बिताना उचित है । जब हम लोग इन महात्माओं की प्रार्थना करते हैं, तब यह महात्मागण हमारी आत्माओं के भीतर आत्मप्रकाश करते हैं । और हमें अपने सदृश बना लेते हैं । अवतार-आज के विश्व अवतार की आराधना (पूजा) करते समय हमें अलौकिक शक्ति का विकास नहीं माँगना—हमको माँगनी होगी आत्मा की अद्भुत शक्ति । जिस शक्ति द्वारा मनुष्य की आत्मा मुक्त हो जाती है; समग्र प्रकृति पर वह शक्ति विस्तृत होती है और मनुष्य का दासत्व मोचन कर उसको ईश्वर का दर्शन करा देती है ।

परम पूज्य श्री "बाबू जी महाराज" के प्रति

पुरानी कहानी का गुजरा जमाना ।
नयी जिन्दगी है नया है फसाना ।
किसी ने बदल दी हैं दुनिया किसी की,
है बदला किसी ने किसी का जमाना ।
नहीं खाली दुनिया ऋषी और मुनी से,
मगर उनके साधन का क्या है ठिकाना ।
ये कुदरत से लेते हैं सब काम अपना,
वो बैठे हैं कुदरत पै करके बहाना ।
धनुष—बाण—धारी हुये रामचन्द्र,
कहीं श्यामसुन्दर का मुरली बजाना ।
तवज्जोह की शक्ती मेरे राम की है,
नहीं उनकी शक्ती का कोई ठिकाना ।
रहूँ कैसे खामोश चुप होके बैठूँ,
सदा गैब की अब तो घर घर सुनाना ।
ये अवतार हैं कोई माने न माने ।
हकीकत ने भेजा है करके बहाना ।
भरी जा रही है गुनाहों से कश्ती ।
हजूर अपनी रहमत से इसको बचाना ।
'हरिश' जो भी आया है चरणों में तेरे,
रहा उसका दुनियां में आना न जाना ॥

लगन

लेखक—श्री ईश्वर सहाय जी

ईश्वर प्राप्ति का अर्थ लोग तरह तरह से लगाते हैं। जो लोग ईश्वर को रूपधारी मानकर उसका एक सुन्दर स्वरूप ध्यान में बिठा लेते हैं और उसी रूप को प्राप्त करना चाहते हैं; वे उस बालक के समान हैं जो किसी सुन्दर खिलौने को देखकर उसको लेने के लिए मचल जाता है और जब वह मिल जाता है तो थोड़ी देर के लिए वह उसके दिल बहलाव और मनोरंजन का साधन बन जाता है। वास्तव में ईश्वर इस प्रकार का कोई खिलौना नहीं है जिसको हम अपने दिल बहलाव का साधन मान लें। यह भी कहा जाता है कि ईश्वर हर जगह मौजूद है हमारे अन्दर भी है और बाहर भी। कोई स्थान उससे खाली नहीं। जब यह बात है तो रूप का प्रश्न ही नहीं उठता। अब एक बात यह भी आ जाती है कि जब वह हमारे रोम-रोम में व्याप्त है तो फिर प्राप्ति का अर्थ क्या है? यह सत्य है कि वह हमारे रोम-रोम में व्याप्त है परन्तु फिर भी हम उससे अलग हैं। अब ऐसे व्यापी ईश्वर को हमसे अलग रखने वाली चीज क्या है? यह केवल हमारा 'आपा' है। 'आपा' हट जाने से फिर केवल ईश्वर ही रह जाता है। अतः ईश्वर प्राप्ति का अर्थ केवल 'आपा' का पर्दा दूर करना ही रह गया। मतलब यह हुआ कि इस 'अहम्' के आवरण को हटाकर हमें स्वयं वैसा ही बन जाना है जैसा कि 'वह' है।

अब यह विचार करना है कि वह है कैसा? तथा हममें और ईश्वर में क्या अन्तर है? अन्तर बस यही है कि हम स्थूलता के आवरण में बंधे हुये हैं और वह अत्यन्त सूक्ष्म है तथा हर चीज से मुक्त है। तात्पर्य यह है कि उस जैसा बनने के लिए हमें भी स्थूलता को हटाकर वैसी ही अत्यन्त सूक्ष्म दशा प्राप्त करना है। वास्तव में ईश्वर प्राप्ति का अर्थ यही है। अब यह बात स्पष्ट है कि सूक्ष्मता प्राप्त करने के लिए स्थूलता से सम्बन्ध रखने वाली बातें किसी प्रकार सहायक नहीं हो सकतीं इसलिए आवश्यक हो जाता है कि हम अपनी साधना में भी इस बात का ध्यान रखें और केवल उन्हीं साधनों का प्रयोग करें जो हमें सूक्ष्मता की ओर ले जायें।

ऐसे ध्येय की प्राप्ति के लिये कुछ अन्य बातें भी आवश्यक हैं। सबसे पहले हमारे अन्दर लगन होना चाहिये। यह लगन तभी हो सकती है जब हमारे हृदय में ईश्वर की महानता पूर्ण रूप में विद्यमान हो और हम ईश्वर प्राप्ति को जीवन का मुख्य उद्देश्य समझे हुये हों। यदि जीवन का लक्ष्य स्थापित हो गया है तो उसको पाने के लिए प्रबल इच्छा होगी। लगन और कुछ नहीं अति प्रबल इच्छा ही है। यह इच्छा हमारे अन्दर तभी उत्पन्न होगी जब हमारे मन में यह बैठ जाये कि जीवन में पग-पग पर हमें 'उसकी' (ईश्वर की) आवश्यकता है। वैसे कहने को तो सभी कह देंगे कि ईश्वर की आवश्यकता किसे नहीं है? परन्तु इस बात को हृदय से मानने वाले शायद थोड़े ही मनुष्य मिलेंगे। हर मनुष्य जीवन भर संसारी धन्वों में उलझा रहता है और अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए उधेड़-बुन में लगा रहता है तथा कठिन से कठिन परिश्रम करता है। फिर भी कभी सफलता मिलती है और कभी निराशा। यही क्रम बराबर चलता रहता है। कभी सुख है तो कभी दुःख, कभी आराम है कभी तकलीफ। इसी प्रकार जीवन बीत जाता है। अब बताइये उन्हें ईश्वर की आवश्यकता कहाँ पर रही जब कि उनकी कुल इच्छायें और आवश्यकतायें स्वयं उन्हीं की हैं। परिश्रम करने वाले भी वे ही स्वयं हैं और फल का भोग करने वाले भी वही हैं अर्थात् कुल बातें उन्हीं पर निर्भर हैं और वे स्वयं हर चीज के कर्ता और जिम्मेदार हैं तो फिर ईश्वर की गुंजाइश ही कहाँ पर रही। कहने को चाहे कुछ कह लें परन्तु मन से यह बात बिल्कुल दूर है कि 'वही' सब कुछ करता है। यदि वे कुछ पूजा-पाठ भी कर लेते हैं तो यह उनका एहसान है परन्तु ऐसी दशा में लगन का कहीं पता नहीं रहता।

बात यह है कि उन लोगों की दृष्टि केवल बाहरी शरीर पर ही जमी रहती है, इससे हट कर अन्दर की ओर प्रवेश ही नहीं करती। इस कारण उनका ख्याल केवल ऊपरी बातों में जो शरीर से सम्बन्धित होती हैं अटका रहता है। इससे ऊपर उठता ही नहीं। यह अवश्य है कि जब ऐसी बातें सामने आ जाती हैं जो कि उनके वश के बाहर होती हैं—उदाहरण के लिए रोग या बीमारी; हानि-लाभ तथा जीवन-मरण आदि; जिन पर वे अपने समस्त उपायों के रहते हुये भी काबू नहीं पाते। केवल ऐसे अवसर पर उन्हें कुछ ख्याल होता है कि करने वाला कोई और है और सब कुछ 'उसी' की इच्छा पर निर्भर है परन्तु यह बात उनके हृदय में टिकती नहीं। यदि यही भाव हृदय में दृढ़ता से बैठ जाये और हर काम करते हुये उसका परिणाम 'उसी' पर छोड़ दें तो वास्तव में उन्हें ईश्वर की आवश्यकता हर क्षण पर प्रतीत होगी और उस ओर उनकी लगन

बढ़ती जायेगी। तात्पर्य यह है कि यदि हमारे हृदय में यह भाव कि हम दीन हैं, दास हैं और 'वह' समर्थ स्वामी हैं—दृढ़ता से बैठ जाये तो हमारी सब बाहरी बातें 'उसी' के अधीन हो जायेंगी।

लगन तभी दृढ़ हो सकती है जब कि हमारी दृष्टि अन्तिम ध्येय पर पूर्ण रूप से जमी हो। अब ध्येय क्या हो सकता है? इसके लिए हमें वही अन्तिम दशा जिस पर कि पहुंचना है विचार में लेनी है अर्थात् वह सूक्ष्म दशा जहाँ पर हम 'उसके' समान बन जायें जहाँ तक सम्भव हो सके।

दूसरी आवश्यक बात यह है कि ध्येय की प्राप्ति के लिए सही रास्ता और उचित साधन काम में लाये जायें। यदि हमारी दृष्टि वास्तविक ध्येय पर जमी है और उसके लिए लगन भी दृढ़ मौजूद है तो यह हो नहीं सकता कि हम गलत रास्ते पर ही चलते रहें। यह दूसरी बात है कि कुछ समय के लिए धोखा खा जायें। ध्येय प्राप्ति की प्रबल लगन स्वयं हमें सही रास्ते पर पहुंचा देगी। मार्ग भिन्न-भिन्न बताये गये हैं और साधन भी अनेक हैं परन्तु उनके द्वारा हम जिस परिणाम को प्राप्त होते हैं वह भी भिन्न होता है। मतलब यह हुआ कि प्रत्येक मार्ग का ध्येय भिन्न है और उसके द्वारा वही ध्येय प्राप्त हो सकता है। अब जब कि हमारा ध्येय सूक्ष्मता की अन्तिम दशा की प्राप्ति है तो आवश्यक है कि मार्ग भी उसी के अनुसार हो और उसी प्रकार के साधन भी काम में लाने चाहिए जो ध्येय प्राप्ति में सहायक हों। पथ प्रदर्शक भी ऐसा ही होना चाहिए जो अपने आत्मिक बल से हमारी बाधाओं को दूर कर हमारा मार्ग सुगम बनाने में निपुण हो। ऐसा पथ-प्रदर्शक वही हो सकता है जो स्वयं कुल मार्ग चलकर सूक्ष्मता की उस अन्तिम सीमा तक पहुंच चुका हो जहाँ पर कि बस 'वही वह है।' यदि हमें सफलता की चाह है तो ऐसे ही समर्थ पथ-प्रदर्शक की खोज करना है। सच्ची लगन वाले के लिए सही रास्ता और गुरु सच्चा मिल जाना कोई कठिन बात नहीं है

—००—

== साधना का लक्ष्य ==

(उमाशंकर आर्य, सीतापुर)

जो ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान और अजन्मा कहा गया है—उस ईश्वर को पाने की समस्या सबके सामने है। ऋषियों ने उसे इन्द्रिय-गम्य नहीं है, ऐसा बताया है। तात्पर्य यह कि उसे हम इन आंखों से देख नहीं सकते, कानों से सुन नहीं सकते तथा वाणी से उसका वर्णन नहीं कर सकते। 'रामचरित मानस' में तुलसी की वाणी इसी विषय पर इस प्रकार मुखर हुई है—
“सोइ जानत जेहि देहु जनाई, जानत तुमहि तुमहि होइ जाई।”

तो फिर उसे कैसे पाया जाय या उसे पाने के लिये क्या किया जाय? सन्तों का यह मत है कि वह कण-कण में व्याप्त है। अर्थात् वह अति सूक्ष्म है, कारण—सूक्ष्म ही प्रत्येक में व्याप्त हो सकता है। सूई एक लघु वस्तु है उसे उठाने के लिये छोटे से सहारे की ही आवश्यकता होगी। हमे अपनी अंगुलियों के अग्र भाग या नाखूनों का ही सहारा लेना पड़ेगा। वह मुट्टी से नहीं उठाई जा सकती। निष्कर्ष यह निकला हम सूक्ष्म बनकर ही सूक्ष्म को पा सकते हैं।

“हमें सूक्ष्म से सूक्ष्म की ओर जाना है।” यही हमारे जीवन का महान लक्ष्य है, यह निर्धारित हो जाने पर हमारे सामने जो विकट प्रश्न उपस्थित होता है वह है कि स्थूल के रहते सूक्ष्म कैसे हुआ जाय? यदि हम अपनी उस दशा का मनन करें जब हम माता के गर्भ में थे तो यही आभास होगा कि हम उस समय मांस के पिण्ड-मात्र थे और उसमें वह चैतन्य शक्ति अति सूक्ष्म रूप से समाविष्ट हुई जो हमारे इस जीवन के रूप में उभर कर आई। जब हम माता वसुन्धरा की गोद में जन्मे तब वह सूक्ष्म सत्ता अपनी मूल दशा (Original state) में थी। हम अत्यन्त निर्मल थे। काम-क्रोध अपनी सम अवस्था में थे। लोभ-मोह ने अभी अपना अधिकार नहीं जमाया था। हम यदि क्रोध भी करते तो एक हंसी ही हमारे क्रोध को हटाने में सफल होती थी। परन्तु धीरे-धीरे हम में माता-पिता, भाई-बन्धु तथा सम्बन्धियों का मोह सताने लगा। बड़े होने पर लोभ और मोह ने पूरा अधिकार कर लिया। हम काम और क्रोध के भी बशीभूत हो गये और हमारा आज का स्वरूप हमारे सामने मौजूद है।

सूक्ष्म की ओर जाने में हमें पीछे की ओर यात्रा करनी है। अपनी वही प्रारम्भ वाली निर्मल दशा ही हमें अपने में लानी होगी। हमारे कुसंस्कारों के प्रभाव से मल-विक्षेप के आवरण जो आ गये हैं उनसे हमारी स्थूलता बढ़ गयी है। हमारे अन्तःकरण के प्रकाश पर कालिमा के बादल छा गये हैं। इन्हें ही हमें दूर करना है।

एक बार स्वामी विवेकानन्द जी से किसी ने पूछा कि ईश्वर यदि अति निकट है तो दिखाई क्यों नहीं देता ? इस पर उन्होंने पूछा कि हम तुमको दिखायी देते हैं ? उत्तर मिला “हाँ”। तब उन्होंने अपने और उसके बीच एक परदा डाल दिया और पूछा “अब हम तुम्हें दिखाई देते हैं ?” उत्तर मिला कि हमारे और आपके बीच में परदा है। तब विवेकानन्द जी ने समझाया कि यही परदा हमारे और ईश्वर के बीच में भी है। उसे दूर कर दो।

यहां पर विचारणीय यह है कि यह परदा दूर कैसे हो? हम यह जानते हैं कि जो सत्य और पदार्थ विद्या से ही जाने जाते हैं उनका आदि मूल परमेश्वर है। वह सर्वशक्तिमान है। उसी के प्रकाश से सारा ब्रह्माण्ड-मण्डल प्रकाशित है उससे वह ईश्वरी-धार सबकी ओर प्रवाहित हो रही है। पर हमें उसका ज्ञान नहीं होता। हम यह जानते हैं कि कमरे में प्रकाश करने के लिये यदि हम बिजली की बत्ती का बटन दबायें—स्विच आन करें— तो प्रकाश होने लगेगा। कभी-कभी यह नहीं होता तो बल्ब प्यूज जानकर उसे बदल देते हैं। यदि फिर भी प्रकाश नहीं हुआ तो किसी विशेषज्ञ की शरण में जाना होता है। वह केवल तारों को इश्वर से उधर जोड़ देता है और विद्युत्-प्रवाह होने लगता है।

आवश्यकता है ऐसे पथ-प्रदर्शक की जो हमारे अन्दर मानवीय-प्रवृत्तियों को कम करके ईश्वरीय-प्रवृत्तियों को भर दे। अथवा हमारा सम्बन्ध ईश्वर से जोड़ दे। इस विषय में एक उदाहरण है— तालाब में लहरों की थपेड़ों से जल गन्दा होता है। उसका तल दिखाई नहीं देता। यदि लहरें शान्त हो जायं, और तल की गन्दगी दूर कर दी जाय तो तल में पड़ी हुई तक दिखाई देने लगती है। इसी प्रकार हमारे चित्त की वृत्तियां थपेड़े मारा करती हैं। अपनी साधना द्वारा हम उनको शान्त कर देते हैं और गाइड या गुरु अपनी आध्यात्मिक शक्ति द्वारा कालिमा, स्थूलता और मल-विक्षेप तथा आवरणों को हटाकर हमें निर्मल कर देता है।

हमारे मार्ग में कुछ और बाधाएँ पड़ती हैं। हम बुद्धि द्वारा उन्हें जानना चाहते हैं जो जाना नहीं जा सकता। जितनी भी साधनाएँ प्रचलित हैं वह हमें

स्थूलता की ओर ही ले जाती हैं। केवल ध्यान मार्ग उसके पाने का श्रेष्ठ मार्ग है। पातञ्जलि ने भी धारणा-ध्यान-समाधि को ही अन्तिम सीढ़ियाँ बतायी हैं।

हमारे पूर्वजों ने योग-मार्ग को इतना जटिल बना रक्खा था कि ईश्वर को पाने के लिये घर छोड़ना पड़ेगा और जंगलों की खाक छाननी पड़ेगी। हमारे सहज-मार्ग में दुनियादारी करने का आदेश है और साथ ही साथ ईश्वर-भजन का भी आदेश है। हमारे विचार से यदि ईश्वर के दिये उत्तरदायित्व को हम निभाने में सफल न हुये, अर्थात् गृहस्थ-धर्म-पालन से दूर रहे, तो ईश्वर कदापि हमसे प्रसन्न नहीं हो सकता।

समाधि शब्द से हम चौंक पड़ते हैं कि समाधि जंगलों और गुफाओं में ही लग सकती है। पर सहज-मार्ग विचार धारा में ईश्वर ही हमारा लक्ष्य है। यह तो हुई धारणा। उसके विचार में रहना ध्यान है और उसी विचार में खो जाना समाधि है। अब आप सोचें हम घर पर विचार क्यों नहीं कर सकते और उन्हीं विचारों में क्यों नहीं खो सकते ?

हमारे सामने विचारों में खोने में एक बाधा है। वह है मन की चञ्चलता। यह मत फैला है कि पहले मन को एकाग्र करो। परन्तु सहज मार्ग का विचार है— Concentration is the after effect of meditation— (एकाग्रता ध्यान का परिणाम है)। यदि हम विचारों से संघर्ष न करें, मन को कुचलने या वश में करने की बात भूल जाय तो केवल मन को अनुशासित करना भर रह जाता है। कारण यह है कि कुचली हुई वस्तु उभरती है। हमारा प्रयत्न यह होना चाहिये कि हमारा मन इधर-उधर न ले जाकर ईश्वर की ओर ले जाय। इसका सम्बन्ध अभ्यास से है जो साधक को आरम्भ में ही साधना प्रारम्भ करने के पूर्व समझाया जाता है।

सन्त लोग एक और अवस्था में पहुँचते हैं। संसार के सारे कार्य करते हुये ईश्वर की याद में रहते हैं। परन्तु यहाँ पर एक भ्रम फैला है कि यह दोनों काम कैसे सम्भव हैं? हाँ हमें अभ्यास इसी का करना है। यह सरल कैसे है एक उदाहरण स्पष्ट कर देगा :—

यदि बच्चा बीमार है तो उसकी बीमारी का ध्यान सदा बना रहता है। हमारी इन्द्रियां सारे कार्य करती हैं। हम खाना खाते हैं, मार्ग चलते हैं, दफतर का काम करते हैं परन्तु बच्चे को याद बनी रहती है। हमारे कार्य Conciuous level से होते रहते हैं पर बच्चे की याद Sub-Conciuous level

पर बनी रहती है। यदि हम ईश्वर की याद को Sub-Conscious level पर पहुंचा दें तो हर समय ईश्वर की याद में रह सकते हैं। हम आदि गुरु समर्थ महात्मा श्री रामचन्द्र जी महाराज, फतेहगढ़ के आभारी हैं जिन्होंने यह सहज मार्ग मानव-कल्याण के लिये चलाया और उनके उत्तराधिकारी श्री रामचन्द्र जी शाहजहांपुर का कहना है, "कोई हमसे अपने घर की झाड़ू लगवा ले परन्तु जो कुछ हमारे पास है ले ले।"

अतः हमारा कर्तव्य है कि हम इस अपूर्व अवसर से भरसक लाभ उठावें।

“यह कहा जाता है कि पूर्ण योगी को भूत वर्तमान तथा भविष्य का ज्ञान रहता है। यह बात किसी हद तक तो ठीक हो सकती है मगर सोलह आना ठीक नहीं कही जा सकती। कारण यह है कि Human Instinct पूर्णरूप से कभी नष्ट नहीं होता। यदि हो जाय तो जीवन असंभव हो जायगा। मानव जीवन के लिये Human Instinct का रहना आवश्यक है। यही एक आवरण है जो भक्ति और भगवान को अलग अलग रखता है। यह आवरण केवल मृत्यु के बाद ही हटता है। इसकी प्राप्ति इस प्रकार हो सकती है कि जब हृदय अच्छी तरह से निर्मल हो जाता है तो वह Unified एकाकार हो जाता है अर्थात् Central Region की दशा उसमें पूर्णरूप से व्याप्त हो जाती है। (Purity) स्वच्छता तभी कही जा सकती है। हर चक्र और ग्रन्थि पर यही दशा छा जाना आवश्यक है।”

श्री रामचन्द्र मिशन का सन्देश

(श्री एस. सी. श्रीवास्तव श्रीनगर गढ़वाल)

परमपूज्य श्री बाबू महाराज एवम् भाइयों,

कल मैंने वर्तमान जीवन में योग की आवश्यकता उसमें राजयोग का महत्व और राजयोग के परिमार्जित स्वरूप सहजमार्ग की ओर इशारा किया था। आज मैं सहजमार्ग एवम् श्री रामचन्द्र मिशन का क्या प्रमुख सन्देश है इस पर प्रकाश डालूंगा।

समस्त वैभव और वैज्ञानिक उन्नति से पूर्ण अमेरिका तथा अन्य देशों में पिकनिक जाने का एक जवर्दस्त शौक सा फैला हुआ है—‘कहीं चलो—कहीं भी चल दो—बस यहां से दूर कहीं भी !—’ यही उनका कहना है। कहां जाना है, वे नहीं जानते ! जिन हालतों में वे हैं उनसे दूर वे कहीं जाना चाहते हैं। इसकी वजह क्या है ?—यही कि वर्तमान के प्रति उनमें तीव्र असन्तोष और शोक है। वे आगे जाना चाहते हैं किन्तु उनको कोई दिशा नहीं मालूम ! यह हाल केवल अमरीका का ही नहीं भौतिक चकाचौंध के पीछे भागने वालों की यही दशा होती है। श्री रामचन्द्र मिशन पुकार-पुकार कर यही कहता है—इस दिग्भ्रम को दूर करो, जीवन का एक ध्येय निश्चित कर लो ! सहज मार्ग का तीसरा सिद्धान्त स्पष्ट स्वर में कहता है—“जीवन का एक ध्येय निश्चित कर लेना चाहिये जो ईश्वर प्राप्ति से कम न हो। जब तक उसे पा न लें तब तक चैन न आवे”।

Reality at Dawn में श्री बाबूजी महाराज ने “जीवनका ध्येय शीर्षक” लेख में इसकी विशद व्याख्या की है। हमें धन वैभव तो मिल सकते हैं लेकिन जीवन की समस्या सुलझ नहीं सकती है। जन्म-जन्म तक हमें दुख आदि मिलते रहते हैं। अतः जीवन की मूल समस्या एक जीवन तक ही नहीं कई-कई जीवन तक फैली हुई है। इस लिये हमारे इस जीवन का ऐसा लक्ष्य होना चाहिए जो जीवन की समस्या सुलझा दे भोग बिलास जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता है। परलोक में सुखी जीवन भी जीवन का विशेष लक्ष्य नहीं क्योंकि पुण्य के क्षीण होने पर फिर जन्ममृत्यु का चक्कर प्रारम्भ हो जाता है—‘क्षीणे पुण्ये मर्त्ये लोकम् विशान्ति।’ देवी-देवताओं की उपासना के द्वारा भी हम या तो सांसारिक भोग बिलास की कामना करते हैं अथवा उनके लोक तक पहुंच कर रुक जाते हैं। ऊंचे से ऊंचा

लक्ष्य लोग समझते हैं कि जन्म मरण से मुक्ति मिल जाए। लेकिन पूज्य श्री बाबू जी का कहना है कि जो कोई भी उनके साधन पथ का यात्री है उसे मृत्युकाल तक वे इस दशा पर तो पहुंचा ही देते हैं कि उसे जन्म मरणका चक्कर न पड़े। तो फिर असली लक्ष्य तो वही होना चाहिये जो सबसे ऊंचा हो—इसे बयान नहीं किया जा सकता। इसको शून्यता केन्द्र—Centre, Zero, nothingness या भूमा आदि विभिन्न नामों से पुकारते हैं। वही सतपद है जिसमें क्षोभ होने से समस्त ब्रह्माण्ड की सृष्टि हुई। जब तक हम उस पर नहीं पहुंचते तब तक हमारी पूर्ण उन्नति नहीं है। वही हमारा लक्ष्य है।

अब इस लक्ष्य को पाने के लिये हमें आगे बढ़ना है। जब असल पर हमारी नजर लग जाएगी तो हमारी इच्छा शक्ति बढ़ेगी हमारी वृतियां एकाग्र होंगी और विषम परिस्थितियों का असर नहीं होगा। एक ओर सदगुरु हमें प्राणाहुति के द्वारा उस पथ पर चलने के योग्य बनाते हैं और दूसरी ओर हमारे संस्कारों को क्षीण करते जाते हैं। तब हमारी निगाह उस लक्ष्य की ओर रहती है और साथ-साथ अन्य कार्य भी होते जाते हैं और हम दुनियां के कीचड़ में रहते हुए भी कमल की भांति खिले रहते हैं। वैराग्य अपने आप आ जाता है, और भक्ति तो अपने आप आती है क्योंकि हम अपने लक्ष्य के लिए तड़पते रहते हैं।

तो आज विज्ञान के नशे में लड़खड़ाती और ठोकर खाती हुई मानवता को हम सही पथ दिखलावें। आज वह अपने हाथों अपनी कन्न खोद रही है। उसको रोक कर हम उसे उस रास्ते पर लावें जिसपर जिन्दगी है, अस्तित्व है। इस परम पुनीत उद्देश्य से अपने मिशन की स्थापना सन् १९४५ में हुई थी। आज हमारा मिशन अपने बीस वर्ष पूरे करके इक्कीसवें वर्ष में कदम रख रहा है। आइए हम अपने जीवन में उसके आदर्शों को उतार कर सशक्त स्वरो में सारे विश्व में उसका सन्देश पहुंचा दें।

लोग कहते हैं कि अध्यात्मिक प्रचार के लिए किसी सगठन की क्या आवश्यकता। कुछ हद तक वे ठीक भी हैं क्योंकि अपने देश में काफी मत मतान्तर हैं और वे धर्म के नाम पर जादूगरी से लेकर सभी प्रकार के करतब दिखलाते हैं। लेकिन यदि किसी समाज में चोर बहुत हों तो लोगों को मनुष्य शरीर से तो घृणा नहीं होती। वे यह नहीं कहते कि चूँकि इस शरीर से कत्ल चोरी डकैती होती है अतः हम इस शरीर को नहीं रखेंगे औ इसे नष्ट कर डालेंगे। इसके विपरीत वे शरीर को समस्त धर्म का आदि साधन मानते हैं। बात यह है कि शक्ति एक सूक्ष्म वस्तु 'abstract' है, उसे क्रियाशील करने के लिए एक शरीर-एक स्थूल आधार लेना पड़ता है, जैसे बिजली के लिए तार बल्ब आदि की आवश्यकता पड़ती

है अन्यथा वह होते हुए भी कुछ नहीं कर सकती। और जब उसे ये भौतिक आधार मिल जाता है तो वह प्रकाश देती है, ठण्डक देती है, गर्मी देती है, यहां तक कि मौत तक भी दे देती है।

श्री राम चन्द्र मिशन उस परम शक्ति का स्थूल रूप है जो अपने समर्थ गुरु श्री लालाजी साहब के रूप में प्रगट होकर उनके परम शिष्य एवम् हमारे गुरुदेव श्री बाबू जी महाराज के रूप में कार्य कर रही है। आज हमें बिना किसी झिझक के परम विश्वास से अनन्त गौरव से यह घोषणा कर देनी है कि जिस व्यक्तित्व से विश्व में नया जीवन फैलेगा वह हमने पा लिया है। हम अपने को पूर्ण रूप से उनके चरणों में डाल दें और देखें कि हममें वह अग्नि प्रगट होगी जो इस धरती के कण-कण से जो कुछ अनावश्यक है वह जला देगी। श्री गुरु चरणों की पावन ज्वाला में हम अपना सर्वस्व डाल दें और फिर चिनगारी और अंगारों की तरह विश्व में फैल जाएं।

आज संसार टूट फूट रहा है। वह विनाश और ध्वंस के कगार पर खड़ा है। तो क्या सब कुछ विनष्ट हो जाएगा? ऋषियों की यह धरोहर हमारा यह समस्त प्रयत्न व्यर्थ जाएगा? कदापि नहीं। आज पतझर समाप्त हो रहा है, बसन्त की नई कोपलें फूट रही हैं। मेरे भाइयों इस पतझर वाले संसार में नए जीवन की कोपलें तुमही हो। गुरु की शक्ति से मिशन का वृक्ष फले फूलेगा। हमने अमृत का रहस्य पा लिया है। जब विनाश का दानव अपनी आसुरी लीला करते हुये नष्ट हो जाएगा तो आध्यात्मिकता की नींव पर भारत में एक नई सभ्यता उठेगी और वही फिर विश्व सभ्यता बनेगी। बिना आध्यात्मिकता के आधार पर स्थित हुए कोई भी राष्ट्र जीवित नहीं रह सकता और यदि उसे अपना अस्तित्व बनाए रखना है तो कभी न कभी उसे यह आधार अपनाना पड़ेगा।

A type of Civilization based on spritualism will spring forth in India and it shall in due course become the world civilization. No country or nation shall survive without sprituallity at its base and every nation must sooner or later adopt the same course if it wants to maintain her very existence"

(Reality at Dawn P. 138)

अर्चना-(एक गज़ल)

श्री रामेश्वर प्रसाद भटनागर एम. ए.
Lec. G. I. College Sunaga Garhwal

(निवेदन—इस भौतिक युग में मनुष्य अपनी आत्मा के उत्थान की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं देते हैं। ऐसे में यहां से दूर आध्यात्मिक संदेश श्री गुरु जी दे रहे हैं जिनके सहजमार्ग से माया का पर्दा दूर हो जायगा और मानव आध्यात्मिक मार्ग पर अग्रसर हो सकेगा।—लेखक)

दूर गुलशन से सुनाता कोई उल्फत का फसाना ।
काश मिल जाता हमें भी उनसे मिलने का बहाना ॥
जिन्दगी रह रह सिसकती आरजू का खून होता ।
विजलियां गिरकर मिटाना चाहती हैं आशियाना ॥
ले रहा तूफ़ाँ से टक्कर एक टूटा सा सफीना ।
अब बदल सकता है शायद हसरतों का भी तराना ॥
माहे कामिल ने हमेशा जिन्दगी को दी रवानी ।
चांदनी में लूटता है क्यों कोई दिल का खजाना ॥
शाद होकर भी 'कमल' नाशाद महफिल में सितमगर ।
जामो मीना की सदा हुस्नो मुहब्बत का फसाना ॥

The Dawn Of Light

(Sri Dattaraj Nartak, Gulbarga)

The Sahaj Marga is undoubtedly the only workable way of a spiritual life. It can very easily be practised and followed by anyone whatever walk of life he might happen to be placed in. There is in it nothing to be imposed from outside, nothing unrealistic, nothing un-scientific. Every thing is quite plain, simple and natural. It works out a gradual transformation in the inner being of the *sadhak*, bringing his unregulated mind to a state of moderation and peace. The divine impulse received through the Master's grace strikes the very heart and becomes the guiding factor of life.

Under the system nothing is gained or acquired from outside, but every thing arises from within his own self. The Divine consciousness awakens and he begins to experience a continuous flow of Grace from the Master's medium. The Master's watchful eye however remains ever upon the *sadhak*, if he has submitted himself in the true sense. Every thing then comes to him as a Divine Gift without any imposition or struggling. The age-old idea, as given out by self interested teachers of the so-called Divinity, that higher attainments in spirituality, along with a usual worldly living are impossible and impracticable, has been proved to be wrong and absurd. It is in fact, not the change of form or appearance that counts but the proper regulation of and due moderation in the tendencies of mind, which is so sadly lacking in almost all cases.

Man to day possesses greatest material powers, which are vigorously applied for securing for himself, the greatest amount of happiness in life. This promotes in him a craze for the utilisation of powers to his utmost advantage. In a way self-interest becomes prominent in his view and he begins struggling for it. The struggle together with all its risks and disappointments, promotes in him a feeling of discontent and dejection, the very reverse of what joy and happiness implies. When this has grown in excess the life becomes unhappy and miserable. Why is it so ? The reason is quite obvious. We are seeking for happiness, expecting it to come in from outside where it is not. It really lies within us which we have only to awaken and realise. It is therefore evident that all efforts to bring in peace and happiness through outer physical means are futile and doomed to failure, because of their materialistic bearing.

Religion may however have offered a ray of hope in this respect, but that too in its present degenerated state has turned wholly into a material pursuit. The result as too commonly witnessed is the growth of superstitions, prejudice and fanaticism, related with form, rituals etc. This has finally developed into hatred and rivalry between various rival groups. This is the reason why most of the cultured brains today feel so much averse to the very name of religion and of God as well, which too has, along with it lost its real value. This is the state of degradation which has today brought down the world finally to the very verge of ruin, the signs of which are not wholly undiscernable to almost every eye, though one

drowned in grossest materialism may not feel inclined to acknowledge it as so.

At such a crucial stage and in compliance with the demand of Nature, the Sun of spirituality has now arisen up the horizon, ascending higher and higher in the sky. Its sunshine—the SahajMarga—is spreading all over for the shivering masses to bask in. It is the Divine Light, come down to the earth for the emancipation of the pining humanity. It is the Saviour or the Avatar or the 'Special Personality' as my Master has been pleased to put it in his book, 'The Efficacy of Rajyoga'. Believe it or not, Brothren, but it is definitely so and beyond doubt and dissensions too. The time or the very Zero-hour having already come, he is carrying on with the Nature's plan for the reconstruction of the world, purging out from it the evil and the evil-doers. May we all avail of it to the fullest.

Force which when allowed to run into different channels at the same time, loses its intensity and becomes weak and ineffective. But when it is concentrated on one point it is wonderfully strong. Will is nothing but the concentrated thought, the action of which is very forceful. The stronger the will, the more effective shall be its action. This is the reason why the results achieved through the process of *Pranahuti* are greatly marvellous.

Under the process, the Master's finer powers of *Prana*, applied through the medium of his will, begin to act upon the *abhyasi's* mind creating therein a similar effect. The effect though gradual is deep rooted and permanent, because it affects the deeper

layers of consciousness. Ordinarily the conscious mind is not touched in the beginning except in certain exceptional cases where it may be found to be quite necessary. It is for this very reason that the *abhyasi* some times complains of feeling nothing, because they remain after tracing out its effect upon the conscious level, where it may not be. The effect can however never remain untraced if the *abhyasi* is sensitive enough to catch the faint glimpses of peace and calmness at the subconscious level, which do, to some extent atleast, reflect upon the conscious mind as well. But that is a very delicate experience, which requires keen perception. The effect thus implanted on the sub-conscious level keeps on developing by and by and in course of time it passes on to the semi-conscious and the conscious levels. It is only then that the effect of *Pranahuti* becomes easily perceptible to an *abhyasi*.

By the time the effect has travelled on to the conscious level, the sub-conscious levels get sufficiently cleaned to grow more and more susceptible to the finer influence of *Pranahuti*. There remains then nothing for him to question about or doubt over. The progress goes on unabated by the effect of the continuous flow of the Master's Grace and every thing gets within his perception and experience.

Now a word for the *abhyasis* as well. Fruitful results can be arrived at only when the *abhyasi's* full cooperation is freely available. If there is no craving, no faith or no submission in the *abhyasis*, the final success shall ever remain doubtful. If he does not like to exert himself or does not abide by the prescribed

abhyasi, the final success shall ever remain doubtful. If he does not like to exert himself or does not abide by the prescribed rules and principles but remains held up within his own 'Likes and dislikes', there can be no hope for him. If he is not prepared to give up or take in what may be necessary for the purpose and wants to proceed on loaded heavily with his own thoughts, superstitions and prejudices, the Goal shall ever be far away from him. It is therefore definite that full co-operation of the *abhyasi* can alone ensure the most fruitful results from the Master's Grace transmitted into him through *Pranahuti*.



The Essance Of Sahaj Marga

(Speech delivered by Sri Ram Chandra ji, President,
Shri Ram Chandra Mission at Mysore on 20-12-64)

Great men are not born accidentally. They are born when the world waits for them in eager expectation. Such is the phenomenon of nature. At the time when spirituality was tottering helplessly and the solid materialism had usurped the position of spiritualism in human life and yogic transmission had become quite obsolete, the Great Soul of my Master descended down to earth in the form of Samarth Guru Mahatma Ramachandra ji Maharaj of Fategarh, U. P. This spiritual genius was born on Basant Panchami day, 2nd February 1873. His life marks the advent of a new era in spirituality. He was in fact the nature's prodigy and his work in the spiritual field is beyond common conception. He has practically modified the system of Rajyoga so as to suit the need of the time and the capacity of the people in general. He has made wonderful researches in this science and has made human approach upto the farthest limit possible and practicable for a man in the least possible time. He was completely dynamic so much so that even people not following him got transformed by the action of the effect radiating from him all the while.

There have been great saints of highest calibre in India almost at all time and they have by their teachings and preachings tried to guide through to uplift the masses to a higher level of consciousness. But of all these one who can foment us by his own inner powers would be the best for a guide in the spiritual pursuit. It is he and he alone who perceives our inner complexities, understand our real needs and knows how to conduct us

along the path upto the final limit. Pranahuti or Yogic transmission is of course the chief instrument he works with. That is the only effective process to introduce immediate change to regularise the inner tendencies of our mind so as to effect our gradual transformation. Under the present conditions when the poisonous effect has overshadowed the entire cosmos so as to attack every mind and keep it in a constant state of tumult and disorder, when the senses have all gone out of control, and when the individual mind is on the wings every moment, we stand in dire need of such a personality to take us along supporting us by His superior Powers.

This is what we had in the Divine personality of the Great Master referred to above. He introduced an improved system of Rajyoga which later came to be known as 'Sahajmarg.' The system now followed in the mission presents an easy and natural path for the attainment of the ultimate. The greatest impediment in the path is the unregulated action of the senses which have gone out of control. For this the method of suppression or strangulation hitherto advised under older systems are not of much avail. Really it is not suppression or strangulation that solves our difficulties but the proper regulation of their actions. The Sahaj Marga does not advise those cruder methods which are hardly practicable in the routine life of man. Under the Sahaj Marga system of spiritual training the action of senses is regulated in a natural way so as to bring them to their original state, i.e., just as it was when we assumed the human form for the first time. Not only this but the lower Vrittis which are working independently are subjected to the control of higher centres of superconsciousness. Hence their perverse action is stopped, the higher centres, in their turn, come under the charge of the Divine Centres and in this way the whole system begins to get divinised.

Further the five Vikaras (impediments) known as Kama, Krodha, Lobha, Moha and Ahankara so commonly talked about in the religious books as serious obstruction in a man's path are also greatly misunderstood.

Of these the first two Kama & Krodha come to us from God while the next two i.e., Lobha and Moha are our own creation. We cannot give up what comes to us from God but only modify them so as to bring them to proper regulation required for the Divine living. I may make it clear to you that if Kama is somehow destroyed in toto the intelligence will vanish altogether, because it is closely connected with the intelligence Centre. If Krodha is destroyed a man will not be able to proceed either towards God or towards the world. Really it is only Krodha that excites actions which is thus a necessary requirement of an embodied soul. Similar is the case with Ahankar or egoism. Generally the word 'I' used for the self is identified with the body, though at the same time it points out the fact that the living force in him (soul or spirit as one may call it) is really at work behind the screen. If somehow one is relieved of the idea of body or the soul even, he gets closest to that one craves for. None of these is in itself bad or harmful, it is only we ourselves who have, by our wrong use of them, turned them into impediments in our march towards the Divine. In their pure state they immensely help in every walk of life whether worldly or spiritual. It is not therefore for us to condemn or crush them but to purify them so as to regularise the action.

All these changes in a man's being are brought about under the Sahaj Marg System in a most natural way through the process of transmission (Pranahuti). In fact under this system the regulation of the mind is the job of the master and not of the Abhyasi himself. When the individual mind is brought to the state of the cosmic mind, the manas assumes its real form and

begins to give proper guidance. Man is a bipolar-being. It has got its root, nearest to the Base and the other end towards the world. If somehow the individual mind gets moulded towards the cosmic mind it begins to appear in its true colours. As a matter of fact the human mind is a reflection of the Kshobha which set into motion the forces of nature to bring into existence the creation. The action started in a clockwise motion that is why we see everything round in nature. The individual mind is thus a part of the Godly mind (Kshobha). If somehow we turn its downward trend towards the Base, it will become quite calm and peaceful. But so far as my personal experience goes, I find that it is only the help of one of Dynamic Personality that can turn it towards the Base. It is only the power and the will of such a personality that marks in this respect.

As for the highest human approach, I may say that if by God's Grace one gets into the central region after crossing all the rings of splendour, the very atoms of the body begin to turn into energy and then further on to its ultimate. It cannot however be achieved by mere abhyas and self effort. At higher levels the conditions are such that even if one ascends a little by self effort he quickly slips down because of the strong push from above. So, for our entry into higher regions the Master's help is indispensable. This is in brief about Sahaj-Marga and what it presents to the world. Everyone is quite welcome to try and have a practical experience of it.

Sahaja Marga and the Upanishads

(By S. A. Sarnad)

It is often argued by orthodox men that the system of Sahaja Marga deviates much from the traditional Vedanta philosophy. Prima facie, it seems so; but no thoughtful man can ever fail to perceive the essence of the upanishadic thought embodied in this system. The upanishads mainly speak of the urgent need of the experience of the Highest Ultimate, attaching the least importance to the mere verbal knowledge of It. They warn us at each step against the pit-falls lying in the way of argumentation about the Brahman. Far beyond the senses and the intellect as It is, It can not be established by mere argument. Words fail to express It. It must be realised or experienced rather than known through intellect and described.

And yet, eminent philosophers have tried to describe the nature of the Brahman or the ultimate by interpreting and commenting on the experiences of the Vedic and Upanishadic sages, with the result that there have been established different schools of philosophy. Which particular system do these sacred texts chiefly support, seems to be a matter of endless controversy.

The first statement of Sahaja Marga is that this human life provides the best opportunity for realising the Ultimate Truth and that one should not waste it in other useless pursuits, although acquiring many worldly things is essential. Almost all saints of all times and climes have unanimously stressed this point. The Kenopanishad fully supports this. "One should know the Truth," says the upanishad, "here alone. If not, it is a great loss. . .,"

(इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ॥")

Again, in the Brihadaranyaka Rishi Yajnya-valkya says to Gargi that one who quits this world without knowing the Reality is a कृपण and one who knows it is a ब्राह्मण in the real sense. (यो वा एलदक्षरं गार्गि, अविदित्वाऽस्मल्लोकात्प्रैलि स कृपणो, अथ य एलदक्षरं गार्गि, विदित्वा अस्मल्लोकात्प्रैलि स ब्राह्मणः ॥). The same upanishad in the fourth chapter, (fourth Brahman) says that "Those who know the Truth attain immortality and those who do not suffer," (य एलद्विदुरमृतास्ते भवन्ति अयेतरे दुःखमेवा पियन्ति ॥)

Secondly, in Sahaja Marga, the ultimate Reality is defined as 'Zero' or 'Nonentity.' It is absolutely powerless. It is devoid of mind and activity. This conception goes far beyond the ordinary levels of religion and philosophy, and appears to be quite revolutionary. But we need not be taken aback, for the Taittiriya Upanishad (II, 6-7) states that this universe came into existence from the non-Being or non-entity. (असन्नैव स भवन्ति... (II,7) ॥ असद्वा इदमग्र आसीत् ॥ ततो वै सद्जायत ॥) The Mundakopanishad (II, 2) declares the Creator to be devoid of the vital energy, the mind, the senses and the form etc. (दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः... अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ॥) A hymn of the ऋग्वेद too describes the Highest Ultimate as dynamic and self-evolving. It says, "In the beginning there was neither being nor non-being. That one breathed quite calmly self-sustained. It had within it the latent power out of which the whole universe including the gods developed afterwards" * Here we see a wonderful resemblance between these words and the words of the Master in his Efficacy of Rajayoga.

Sahaja Marga upholds the path of meditation for realising the Ultimate Reality although it does not support the view that the paths of knowledge, action, devotion and meditation are different from one another. Take any one of these and you will

* Quoted by Prot M. Hiriyaana in his "Essentials of Indian Philosophy" P. 16.

find the others included in it. Master has put it beautifully in his 'Reality at Dawn' in the following way: ".....In fact the stages of Karma, Upasana and Gyan are not different from each other but are closely inter-related and exist all together in one and the same state. For example, in Upasana, controlling of the mind is Karma, the controlled state of mind is Upasana and its consciousness is Gyan; in Gyan, the process of thinking is Karma, stay on the thoughtout object is Upasana and the resultant state is Gyan; while in Karma the resolve to act is Karma, process of bringing into practice is Upasana and consciousness of the achievement is Gyan." The Upanishads emphasize meditation (ध्यान or निदिध्यास) for realising the self or the Highest Truth. By meditation the knowledge of the Ultimate Reality acquired by the study of the Upanishads and by reflection upon their meaning is transformed into direct experience. A mere intellectual apprehension is of no use in this regard. Meditation is the last and the most important part of the threefold discipline set-forth in the Upomthads —श्रवण, मनन् and ध्यान.

The method of meditation, too, is in accordance with the Upanishadic teaching. Meditation on the Divine Light in the heart is advised in the Kathopanishad; "The Purusha dwells in the middle of the heart, shining like light. Those who see Him attain peace eternal and none else." (अंगुष्ठामात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमक II 1,3... मध्य आत्मनि तिष्ठति (II, I, 12) । तमात्मस्थं येऽनु पश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् (II, II, 13 II) The मुण्डक and the श्वेताश्वतर very clearly state the nature of such meditation: "The self controlled see the luminous and Purna Atman in their own heart and become sinless." (अन्तः शरीरे ज्योतिर्मया हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीण दोषाः (III, I, 5) II "Those who know God dwelling in their own heart...attain immortality." (एष देवो विश्वकर्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः । य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति II) But such meditation should be practise only

under the guidance of a ब्रह्मनिष्ठ who is capable of inspiring the aspirant and transmitting in him the required states of consciousness. The Upanishads declare that one who is atheist for ब्रह्मविद्या must approach a Guru or guide alone, "स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियम् ब्रह्मनिष्ठम् ॥" "He, who has a guru, alone knows It." (आचार्यवान् पुरुषोवेद) For, there are slippery grounds at each step in the Sadhana and one is likely to lose the way without a guide.

Now, let us consider the place of knowledge and reason in Sahaja Marga. Many people complain that there is no scope for reason in Sahaja Marga in as much as it lays stress only on meditation and constant remembrance of God from the very beginning, before acquiring the knowledge of God or the self.

We, however, pity such gentlemen, who inspite of the warning of the upanishads as that Brahman can not be attained by reason (नैषा लक्षण मतिरापनेया.....) still insist on the same. The बृहदारण्यकोपनिषत् clearly states that "one should not use too many words to describe the Brahman, for, it is mere weariness of the tongue" (नानुध्यायाद् बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ।) One should realise the Brahman as It is and not with pre-conceived notions. So a minimum knowledge about the Brahman would suffice for the purpose of proceeding further or making a start and this minimum knowledge is given to each and every ABHYASI of Sahaja Marga. This, however, does not preclude any body from studying philosophy to enrich and strengthen one's knowledge and experience. Every abhyasi is, of course cautioned against the possible dangers of such study, which should, in fact, in crease his craving for realisation and not confuse him by creating unnecessary doubts. In that case such study would be very helpful in the practice. But in many cases it is seen that unnecessary knowledge becomes a hindrance and one has to unlearn everything before proceeding towards

Reality. It is against such study and knowledge that the Upanishads sound a note of warning: "This self cannot be gained by means of eloquence or by intellect or by scholarship. He whom. It chooses, alone can attain It." (नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैषवृणुते तेनलभ्यः (कठोपनिषद I. 123) ॥ So, it depends upon the grace of God, which is the final factor in realisation. One must therefore, surrender oneself totally to Master-God and find fulfilment of lifes' purpose.

OUR SACRED DUTY.

(By Raghavendra Rao)

Beloved Babu ji, brothers and sisters,

Once again we are celebrating the auspicious birthday of the personality after whose name our sacred Mission is founded. This is the happiest occasion as well as the most solemn one in our lives. This occasion reminds us of our great fortune as well as of our tremendous responsibility.

We have among us one, every atom of whose being is entirely divine and one with the ultimate existence. We have nothing else to do but to keep ourselves firmly connected with such a one. Never before a simpler method of attaining higher spiritual approach was given out to mankind. Never before, in the entire history of mankind, such a personality had come forward to help the seekers, in such an unassuming and unselfish manner.

By now, almost all of you might have come to realise how naturally our system of Sahaja Marg works. Thanks to the great Master who has brought to us our own Yog and philoso-

phy in the most effective form, to be practised quite safely and easily by everyone, whosoever desires. When our thirst or craving for the sublime or the Noble was taking us to stones and books, charlatans and magicians, jungles and ashrams or monks and fools God came to us in our own from. And when we have sipped the nectar given to us through transmission we feel like drowning ourselves in this ocean of Immortality. When the Infinite comes before the view all the finites vanish away and lose their false values.

We had heard many good and attractive stories about the famous teachers of spirituality. But we are extremely fortunate in having a real one for our actual guidance. His methods of teaching are not only wonderful and superb but surpass even the above mentioned attractive stories. The reality which we are experiencing is for more wonderful than any imaginable fiction. Sometimes, his ways are dubbed as unconventional and revolutionary, but these are the only methods required to awaken us from our deep slumber and take us out of the ruts of old habits of thinking and mediocrity. Spiritual training essentially consists in breathing in a new life, so to say. And for a new life to come, the old and famished one has to be liquidated. Unless this second birth takes place for a man in his life, he can not hope to rise high in the spiritual field. Such second birth comes only after he first becomes a "living dead".

When we look to the present day teachers, we find that they exhort us to renounce our householders, life and become their disciples to proceed on the path of spirituality of their conception. But when we study their living we find that they are much more entangled in the worldly affairs and their main objective appears to improve their own name, fame and material comforts.

In fact, the moment they put on the uniform of religious teachers, they fall a prey to the worst sort of superiority complex and bring shame to themselves as well as to their religion. They can never think that there are many householders who may be

far advanced in spirituality and who may be even able to teach them how a real teacher should be.

And I need not speak of our secular education the only aim of which is also to prepare us to hunt after name, fame and material comforts. In this way the consequent evils of rivalry, hatred and jealousy have spread among almost all classes of teachers and their followers. Pleasure seeking and gratification of senses has become the only creed of the present day civilisation. Under such circumstances a great responsibility falls upon us.

We, who have seen the Master leading the life of an ordinary Grihastha, and who have taken Him as our real teacher, are duty bound to copy and imitate the essence of his life. We have to prove to the world by our own examples of living, that a fuller and a nobler life is possible for every man under all circumstances. There are the ten commandments of Sahaja Marg for our living and there is the prayer of our Mission for our inspiration and guidance. And the Master is always here giving us courage, strength and support.

As you all know, ours is the way of Yog, Raja Yog. We make use of "thought". I need not describe here the great potentialities of the power of thought, as you are all aware of them to some extent. As the followers of Shri Ram Chandra Mission it becomes our bounden duty to use this tremendous power of thought for the constructive purpose which is that of Master. We have to purify ourselves to the fullest extent possible and place ourselves as the fit and worthy instruments in the hands of Master. If we use this power for our benefit as well as for the benefit of mankind, so far so good. But if we use it for the fulfilment of our narrow selfish desires, it will amount to abusing or misusing it; and we have to suffer the reactions of such misuses or abuses. Hence the best way is to surrender to Master without the slightest reservations, and attach our thought firmly with him whose thought is working in perfect conformity with the will of God.

Lastly, banishing all other desires from my heart. I pray to Master to help all of us to reach Him as he is the only power and God to bring us upto that stage.

MY SPOT IN DIVINITY.

(By Kumari Nandini Seshadri)

During his stay here in January '65 Masterji asked me to write an article on 'My spot in Divinity.' I took it in two ways, one that of 'Master's spot in Divinity' and another—'my spot in Divinity.'

When we view it from the angle of our journey in the path of Divinity, Master plays an important role. As one of the Abhyasis of Sahaja Marg it is a great privilege extended to me by Master to express something about my experience in this journey towards Divinity. At first it is, I should say, only by our master's grace I am able to write this small article. The quest of mankind is to grasp the fundamental truth which are hidden by many outward things. 'All roads lead to Rome' is a proverb. Similarly, there are many ways by which we can try our best to reach the 'goal of human life'—the Ultimate. The main cause for taking the birth of a human being is to try with all means body, mind and intellect to reach the ultimate goal. The aim of the human being must not be confined to a limited extent. His aim should be the highest one. A man who has a limited aim will get fulfilment to that limited extent only. On the other hand in the case of one who has the highest aim, has that fulfilled provided, of course one has a worthy Master. Master is the only link between the mortal and the immortal, between humanity and

Divinity. We must find out that Master of calibre who is always merged in the Divine, and surrender ourselves unto him with faith and confidence.

There arises one question sometimes in many of us but we do not take much pain to find answer to that. 'Who you are?' is the question which our inner voice arises in us. Where from have you come, and what for, are the questions that follow. Those who want to seek answer for this go in search of it and they adopt so many methods. Similarly having a determined goal as this and the proper means to achieve it, then we have to go in search of a right type of Master who would guide us ably, smoothly and rightly along the path of realization. In all cases including for the worldly life, we are in need of a guide who would help us in achieving the desires. Some may say that from books one can acquire knowledge. No doubt it is true. But in spirituality the case is otherwise. The thirst for a Guru advances when a man proceeds further on his march towards realization. In the case of spirituality one should have practical experience. Mere book knowledge is not enough. It will prove dangerous sometimes. From reading books one may acquire knowledge first and then wisdom. But in Sahaj Marg, as propounded by our Master the Abhyasi gets wisdom first and then comes the knowledge. Thus the wisdom occupies a primary place.

After coming under our Master's grace I feel as if I have got in to a spiritual treasury. In Sahaj Marg we start with meditation. In course of our practice we develop concentration and this power of concentration is of great use when we view it even from the angle of daily life, let alone in the spiritual field.

In our Sahaj Marg, Master plays a very important role. He, by the cleaning process, purifies our entire physical and spiritual systems and then proceeds on lifting us in the path towards Divinity. If we meditate on the form of a Master of calibre, there is no doubt about our reaching the 'Real goal of human life' the highest aim fixed by Him.

There are preceptors in our Mission at different centres, and through them our Master transmits to us. It is a peculiar system, not elsewhere found. Through these preceptors we get our Master's grace in satsanga.

There comes the question 'What is my spot in Divinity.' As a young girl I do not know much about dialectic metaphysics. The only thing I understand is that through intellect man gets knowledge, but wisdom can dawn only through Master's grace. My spot in Divinity is much smaller than a millionth of a microscopic particle in the cosmos. What does it suggest? That means this 'I' is nothing at all. To raise it to a full evolutionary being is my Master's work. My duty is only to make this body called 'self' more and more receptive to His ever-flowing grace. Even in this process, I feel I am incapable of doing without my Master's grace. So I resort to meditation on my Master alone, as I do not know what God is, just as a young baby does not know anything else in this world other than its mother. It has full confidence, faith and fearlessness in its mother—So do I have in my Master.

After meditation for some time I feel myself to be light and some burden being taken away from me. I also derive a sort of happiness and calmness which according to me could not be

derived from any other source excepting meditation. At one time I used to get a doubt whether I am believing in God or not. But at the same time I feel something within me saying that the feeling of Shanti and happiness which I get during and after meditation cannot be anything else other than from a Supreme Being. Thus a kind of sustaining force is encouraging me to proceed on in this path and this encouraging force, I feel, can not be other than my Beloved Master. Oh what a link between this speck in the Divinity that is me the sishya, that spot in the Divinity that is my loving Master i.e. the Guru who is ever in laya in Brahman and Divinity itself, i.e. the 'Bhuma.'

Teachings of Sahaj Marga



1. Have firm faith in God—the One Absolute—and live in Him.
2. The two phases of life, the worldly and the divine, must go side by side, in conjunction with each other, and must be attended to without least neglect of either.
3. Take everything in the sense of duty and attend to it without any feeling of attraction or repulsion.
4. Love all beings with a spirit of service and sacrifice.
5. Give everyone his fair dues, treating him as your own.
6. Treat elders with respect and younger with affection, abiding by the general rules of etiquette.
7. Meet adversity with resignation, banishing from the heart feeling of anger or vengeance.
8. Follow toleration and moderation in all activities of life.
9. Aim at the highest, putting, in honest and sincere efforts for its achievement.

